पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में जैन नैतिक अवधारणा

—प्रोफेसर एल० के० ओड

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में जीव सृष्टि के बारे में जैन अवधारणा को एक लघु सूत्र में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"परस्परोपग्रहः जीवानाम्"

अर्थात् प्रत्येक जीव एक दूसरे से जुड़ा हुआ है, एक दूसरे पर आश्रित है। सृष्टि का चक्र इसी अन्योन्याश्रय की ऊर्जा से संचालित होता है। प्रत्येक जीव अन्य जीवों से जीवन शक्ति (ऊर्जा) ग्रहण करता है और अपने आश्रित जीवों को जीवन शक्ति देता है। इसका एक स्थूल उदाहरण है—हमारे द्वारा छोड़ा गया कार्बनडाई ऑक्साइड वनस्पति के जीवों को जीवन शक्ति देता है और वनस्पति द्वारा उत्सर्जित ऑक्सीजन हमारे लिए प्राणवायु बनाता है। ऐसे स्थूल रूप से दृष्ट-अदृष्ट तथा बुद्धि द्वारा ज्ञात-अज्ञात असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं, जो उक्त अवधारणा को पुष्ट करते हैं। यह व्याख्या पूर्णतया वैज्ञानिक है, जिसमें परिकल्पना अथवा तर्क के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

जैन दर्शन में जीवन सम्बन्धी सम्प्रत्यय भी बहुत व्यापक है, जिसमें स्थावर श्रेणी के अन्तर्गत अनेक ऐसे तत्वों का भी समावेश कर लिया गया है, जिन्हें अन्य दर्शनों ने तथा विज्ञान ने भौतिक तत्व के अन्तर्गत रखा है। इसी कारण आचार्य को "जीवानाम्" के साथ "अजीवानाम्" जोड़कर अवधारणा को और अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। यदि उक्त सूत्र को 'परस्परोपग्रहः जीवाजीवानाम्' कर दिया जाए, तब भी व्याख्या में कोई विशेष अन्तर नहीं आता।

जैन दर्शन के अनुसार हमारी यह सृष्टि जीव तथा अजीव इन दो तत्वों से निर्मित है और इसका कोई अपवाद भी नहीं है। ऐसा कोई परमात्मा या ब्रह्म या सृष्टि निर्माता नहीं है, जो इन दो तत्वों में न समाविष्ट होता हो। अशरीरी मुक्त आत्माएँ अर्थात् सिद्ध भी जीव की श्रेणी में ही आते हैं। हमारी इस सृष्टि में एक सन्तुलन है और ग्रह-तारा-नक्षत्र, जीव, अजीव सब एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि यह सन्तुलन सतत् बना रहता है। यह सृष्टि अनादि तथा अनन्त है और इसका रहस्य है "परस्परोपग्रहः"। जब कभी इनमें से कोई घटक सृष्टि के इस अन्योन्याश्रय में कोई विक्षेप डालता है, तब सृष्टि में थोड़ा असन्तुलन आता है परन्तु अन्य जीवाजीवों की पूरक क्रिया-प्रतिक्रिया उसमें पुनः संतुलन कायम कर देती है। कभी-कभी संतुलन बिगाड़ने वाले तत्व इतने जबर्दस्त भी होते हैं कि पूरा का पूरा ग्रह या तारा अपना अस्तित्व खो देता है परन्तु इतना बड़ा परिवर्तन भी इस अपार सृष्टि को अनन्त ही बनाए रखता है। सन्तुलन बनाए रखना सृष्टि का अनन्त नियम है।

जीवों की चार श्रेणियों में देव तथा नारक तो कृतकर्मों का उपभोग मात्र करते हैं, स्वयं कर्म करते नहीं हैं, जो सहज कर्मों का बन्धन होता है उस पर उनका वश नहीं है। तिर्यंच श्रेणी के जीवों के संज्ञा अथवा मन नहीं होता। उनका व्यवहार मूल प्रवृत्तियों (Instincts) से संचालित होता है। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे भी सुचिन्त्य रूप से कर्म करने की शक्ति से रहित होते हैं। सृष्टि में केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसे स्थूल ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त सूक्ष्म 'मन' जैसी इन्द्रिय भी प्राप्त हुई है। विकासवादियों के अनुसार यह इन्द्रिय सृष्टि के विकास क्रम से मनुष्य ने अर्जित की है। स्थिति जो भी हो, वर्तमान में यह मनुष्य जीव का अभिन्न अंग है। 'मन' की इस वृत्ति का विकास उच्च से उच्चतर होता गया और मानवीय संस्कृति निरन्तर समृद्ध होती गई। आज तो यह मानने में कोई संकोच नहीं करता कि शरीरजन्य सहज क्रियाओं (Reflex actions) के अलावा मानव का सभी दृष्ट-अदृष्ट व्यवहार संस्कार-प्रेरित होता है। मानवीय व्यवहार का समाजीकरण होता है।

भौतिक सृष्टि का सन्तुलन कुछ तो परमाणु पुद्गल के अनवरत घात-संघात के फलस्वरूप बना रहता है, परन्तु जब जीव और अजीव सृष्टि के बीच तथा विभिन्न श्रेणियों के जीवों बीच अन्तर्क्रिया चलती है, तब सन्तुलन को कायम रखने के लिए सचेष्ट रहना पड़ता है। जहाँ तक स्थावर जीवों का प्रश्न है, वे पूरी तरह प्रकृति के सन्तुलन नियम से संचालित होते हैं और सृष्टि सन्तुलन में वे लगभग उसी प्रकार आचरण करते हैं, जिस प्रकार कि भौतिक पदार्थ। असंज्ञी अर्थात् मनरहित तिर्यंच प्राणी जब परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं, तब थोड़ा सन्तुलन बिगड़ने का भय रहता है, परन्तु सामान्यतया असंज्ञी प्राणि-जगत का व्यवहार भी प्राकृतिक नियमों से संचालित होता है। स्थावर जीवों तथा असंज्ञी त्रस जीवों की अन्तर्क्रिया का नैसर्गिक चक्र बना हुआ है। इस नैसर्गिक चक्र में परस्परोपग्रह की स्थिति देखी जा सकती है। इस चक्र में हिंसा-प्रतिहिंसा का चक्र भी चलता है, परन्तु यह हिंसा-प्रतिहिंसा भी आत्मरक्षा, जीवन-संचालन, संतति-पालन, प्रजनन आदि मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित होती है। कुल मिलाकर यह सब उपक्रम प्राकृतिक सन्तुलन को कायम रखने में मदद करते हैं। असंज्ञी प्राणी स्मरण, तर्क, कल्पना, चिन्तन, निर्णय, संकल्प आदि मानसिक क्रियाओं से रहित होते हैं अतः उनके लिए परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित रहने वाली सामाजिक नैतिकता कायम नहीं की जा सकती। उनकी नैतिकता केवल मूल प्रवृत्तियों से प्रेरित है। उदाहरण के लिए हिंसक पशु क्षुधा लगने पर या आत्मरक्षा के लिए ही दूसरे प्राणी पर आक्रमण करता है, अन्यथा नहीं। प्रजनन के लिए प्रकृति से प्रेरित होकर ही पशु काम-क्रीड़ा में संलग्न होता है, केवल काम तृष्णा की तृप्ति के लिए नहीं। इसी कारण असंज्ञी प्राणी जगत के लिए ब्रह्मचर्य या परिवार नियोजन या अपरिग्रह जैसे नैतिक नियम बनाने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि ये मर्यादाएँ तो उनके जीवन में सहज ही विद्यमान रहती हैं।

मनुष्य संज्ञी (मनयुक्त) प्राणी है, जिसने प्राकृतिक नियमों से अपने आपको ऊपर उठा लिया है। क्षुधा लगने पर ही वह भोजन-प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करता, अपितु वह खाद्यवस्तुएँ भविष्य के लिए संग्रहीत करके रख सकता है, और इसी कारण वह अपनी आवश्यकता की सीमा का अतिक्रमण करके भोजन करता है, जबकि कुछ अन्य प्राणियों को भूखा ही रह जाना पड़ता है। आवश्यकता से अधिक खाने वाला भी रोग-ग्रस्त होता है और भूख से कम खाने वाला भी अशक्त बनता है। दूसरी ओर भूमि पर दबाव बढ़ता जाता है और इस प्रकार सन्तुलन बिगड़ने लगता है।

मनुष्य का व्यवहार मन से संचालित होने के कारण बिना प्रजनन-प्रेरणा के भी वह निरन्तर कामैषणा में लीन रहता है। कामविकारों को बढ़ाने वाले साधनों की वृद्धि करता है और इस प्रकार ऐन्द्रिक सुखों की लिप्साएँ बढ़ती जाती हैं, मनुष्य उन्हें तृप्त करने के लिए जूझता जाता है और तृष्णाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं, जैसा कि कहा भी गया है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न जातु कामः कामानामुपभोगेन श्याम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव पुनरेवाभिवर्धते ।

अर्थात् कामनाओं की तुष्टि से कामनाएँ शान्त नहीं हो जातीं परन्तु और भी बढ़ती हैं, जैसे कि अग्नि में हवि (घृत आदि) डालने से अग्नि शान्त नहीं होती और भी बढ़ती है ।

मानव प्रकृति के सम्बन्ध में यही बात उत्तराध्ययन सूत्र में कही गई है—

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणा वि न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ।।
जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं ।।

—अध्याय ८ गाथा १६–१७

अर्थात् मानव की तृष्णा बड़ी दुष्पूर है । धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि एक व्यक्ति को दे दिया जाए, तब भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता । ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता ही जाता है । दो माशा सोने की अभिलाषा करने वाला करोड़ों से भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता । किसी की अनन्त तृष्णाएँ दूसरे व्यक्ति की मूल आवश्यकताओं का भी हनन करती हैं । उत्पीड़ित व्यक्ति भी आत्मरक्षा के लिए संघर्ष करने के लिए कभी न कभी जाग ही उठता है और इस प्रकार द्वन्द्व की शुरुआत होती है, वर्ग-संघर्ष पनपता है, प्रकृति का शोषण किया जाता है, निरीह प्राणि-जगत को हटाकर मनुष्यों के लिए अधिक सुविधाएँ जुटाई जाती हैं, जंगल काट कर खेती के लिए जमीन उपलब्ध की जाती है और फरनीचर, वाहन, ईंधन तथा अन्य इसी प्रकार के मनुष्यों के उपभोगार्थ लकड़ी उपलब्ध की जाती है । दूसरी ओर जंगल के स्थान पर बने खेत तथा उद्यान भी अतिशीघ्र आवासीय, वाणिज्यीय तथा औद्योगिक प्रयोजन हेतु अधिग्रहीत कर लिए जाते हैं । मनुष्य की अनन्त तृष्णा ने खनिज सम्पदा का दोहन करने के लिए पर्वतों को पोला कर दिया है, आर्द्र हवाओं को शुष्कता में परिणत करने के लिए पर्वतीय अर्गलाओं को खोल दिया है, जिससे कि मनुष्य अपने वाहनों के साथ प्रकृति को रौंद सके । मनुष्य की सौन्दर्य भावना नष्ट हो रही है । वह प्रकृति को अपने अनछुए व अक्षत रूप में देखना ही नहीं चाहता । उसकी आदत तो सूर्य के प्रकाश को बिजली के बल्वों में, स्वच्छन्द हवा को छत में लगे पंखों में, प्रकृति के अनहद नाद को टेप किए हुए रेकार्डों में तथा झरने के स्वच्छ जल को नल की टोंटी में से निकलती हुई क्षीण धारा में देखने का आदी हो गया है ।

मनुष्य को चिन्तन की शक्ति मिली है । इसी कारण वह प्राचीन अनुभवों को संचित रख सकता है, उनमें समय-समय पर परिवर्तन तथा संशोधन कर सकता है, अन्य अवसरों पर उनका लाभकारी उपयोग कर सकता है, नई कल्पनाएँ कर सकता है, प्राकल्प निर्माण, प्राकल्प परीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण तथा सामान्यीकरण की मानसिक क्रियाओं द्वारा नई खोजें कर सकता है तथा प्रकृति को समृद्ध करने या विनष्ट करने के उपाय ईजाद कर सकता है । मन की शक्ति ने मनुष्य को अतुल शक्ति प्रदान कर दी है ।

जब जब मनुष्य अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग, उपभोगों को बढ़ाने में लगाता है, तब तब भोगवादी संस्कृति पनपती है, प्रकृति का विध्वंस होता है, सृष्टि का सन्तुलन बिगड़ता है और इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्तुलन को पुनः कायम करने के लिए मानवीय संस्कृति में एक भूचाल आता है। इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है। दूसरी ओर जब मनुष्य प्रकृति, स्थावर जीव, संज्ञी जीव, असंज्ञी जीव, अजीव सबके साथ "परस्परोपग्रह" भावना से संस्कारयुक्त जीवन जीता है, तब प्रकृति फलती फूलती है, मनुष्य तथा अन्य सभी जीव सुखपूर्वक जीते हैं और सृष्टि सन्तुलित रूप से संचालित होती है। आज पुनः मानवीय संस्कृति का झुकाव भोगवाद की तरफ है।

मनुष्य यदि अपनी भोग वृत्ति को थोड़ा संयत कर दे, तो प्रकृति का चक्र स्वतः ही अपनी सहज गति में आ जायेगा। यदि वन रहेंगे तो स्वेच्छाचारी शाकाहारी पशु भी रहेंगे और उनकी संख्या को सीमित करने वाले हिंसक वन्य पशु भी रहेंगे और ये पशु रहेंगे तो परिस्थितिक (Ecological) सन्तुलन भी बना रहेगा परन्तु इनको कायम रखने के लिए मनुष्य को अपनी शिकार वृत्ति पर नियन्त्रण रखना होगा, छोटे प्राणियों को भी बचाना होगा, वनस्पति की भी रक्षा करनी होगी और इनके नव-प्रजनन तथा वृद्धि के लिए आवश्यक जलाशय, आर्द्रता, हरीतिमा, पहाड़ों की गुफाएँ इन सबको अक्षत रूप में जिन्दा रखना होगा। अनाज की रक्षा हेतु चूहों को मारने की झुंझलाहट में हम यह भूल जाते हैं कि चूहों के न रहने से कीड़े भी तो परेशान करेंगे और सांपों का तथा बिल्लियों का भोजन आपने छीन लिया, तो यह अन्य प्रकार के उत्पात मचायेंगे। यदि ये भी मर गये, तो जीवन चक्र की गति में और झटके आने लगेंगे। एक ओर मत्स्य उत्पादन तथा वृद्धि के लिए जलाशयों में मत्स्य बीज डाले जाते हैं, और दूसरी ओर मछली पकड़ने वाले ठेकेदारों ने ऐसी युक्तियाँ निकाल ली हैं कि अल्प समय में ही सभी मछलियाँ पकड़ ली जायें और जलाशय की प्राकृतिक स्वच्छता-प्रक्रिया को समाप्त कर दिया जाये। अब आगामी ऋतु में वर्षा हो तो पुनः मछलियाँ आयें और जल की स्वच्छता प्रक्रिया पुनः आरम्भ हो। तब तक जल के अन्य जन्तु भी मरें, पशु-पक्षी भी विवशतापूर्वक इस निर्जीव पानी से ज्यों-त्यों जीवन गुजारें।

मनुष्य की भोगवादी संस्कृति ने बड़ी-बड़ी फेक्ट्रियों को जन्म दिया, जो प्राकृतिक सम्पदा का इतनी तेज गति से दोहन करती हैं कि प्राकृतिक विधि से उनका पुनः संस्थापन नहीं हो पाता। यह बात केवल खनिज सम्पदा तक ही सीमित नहीं है अपितु भूमि से उत्पादित अन्न तथा भूमिगत जल के बारे में भी उतनी ही सही है। हमारी नगरीय संस्कृति में रहन-सहन के तरीकों में जिस प्रकार का परिवर्तन आया है, उससे हमारा जल-उपभोग पहले की तुलना में आज दस गुना बढ़ गया है। दूसरी ओर बड़ी फेक्ट्रियों में भी शुद्ध पेय जल प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होता है। स्थान-स्थान पर बांध बंध जाने से नदियाँ सूखी पड़ी हैं। अब लोगों की कुदृष्टि भूमिगत जल पर पड़ी है। उसे भी विद्युत शक्ति द्वारा इतनी तेजी से बाहर निकाला जा रहा है कि प्राकृतिक आपूरण शक्ति उसकी क्षतिपूर्ति नहीं कर पाती। वनों के कटने से तथा पारिस्थितिकी-समन्वय के विषम हो जाने से वर्षा ने भी अपना रुख बदल लिया है। कहीं अकाल वर्षा है, कहीं बाढ़ें आ रही हैं और कहीं सूखा पड़ रहा है। वर्षा की कमी अधिकांश भागों में अनुभव की जा रही है।

जल और भूमि का शोषण करने के बाद हमारी भोगवादी संस्कृति अन्तरिक्ष की ओर बढ़ी है। आये दिन भूमि से अन्तरिक्ष में छोड़े जाने वाले रॉकेट, उपग्रह तथा खोजी यानों के द्वारा अन्तरिक्ष में दूषित गैसें भर गई हैं और उनकी प्रतिक्रिया अन्य ग्रहों पर होना आरम्भ हो गई है। हमारे युद्धोन्माद तथा एक-दूसरे की भूमि-सम्पदा हड़प कर अन्य मनुष्यों को पराधीन बनाने की दूषित मनोवृत्ति ने अनेक आणविक, आग्नेय तथा रासायनिक अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दिया है जो स्वचालित होने के साथ आका-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीय मार्ग में यात्रा करते समय पर्याप्त प्रदूषण बिखेर देते हैं। बड़े-बड़े कारखानों से निकलने वाली गैसीय दूषित हवाओं ने तो पृथ्वी के निकटस्थ आकाश को ही दूषित किया है परन्तु इन आग्नेयास्त्रों तथा रासायनिक मारकों ने पृथ्वी से बहुत ऊपर व्यापक क्षेत्र में प्रदूषण फैलाया है, जिनका प्रभाव सदियों तक रह सकता है।

आज हमारी मानसिक शान्ति नष्ट हो गई है। सड़कों पर वाहनों की कर्कश आवाज, कारखानों में थका देने वाली यांत्रिक ध्वनि, उद्यानों, मंदिरों तथा खुले स्थानों पर ध्वनि प्रसारक यन्त्रों से निकलने वाले विविध प्रकार की गीतमय, अगीतमय, तथा कर्कश स्वर और घर पर आइये तो रेडियो, टेलीविजन अथवा टेपरिकार्डर आदि से प्रसारित होने वाले गाने। इन सब पागल कर देने वाली आवाजों में बच्चों की तुतलाती वाणी, पत्नी की मनुहार भरी शिकायत और भाई-बहनों या भाभी ननदों आदि के निश्छल हास-परिहास की आवाजें दब गई हैं। प्रार्थना, स्तवन तथा भजन तो अब टेप किये जा चुके हैं। उनमें भावों का तादात्म्य नहीं है, यांत्रिक एकरसता है। आज ध्यान, मौन, शांति सब शब्द अपना अर्थ खो चुके हैं। यह ध्वनि प्रदूषण हमारे स्नायु संस्थान पर दबाव डाल रहा है। अनेक प्रकार की मानसिक व्याधियों से हम ग्रस्त होते जा रहे हैं। आज हम बौद्धिक दृष्टि से चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुके हैं, भौतिक सम्पदा के हम धनी हैं, उपभोग वस्तुएँ हमारे घरों में अटी पड़ी हैं परन्तु फिर भी हम अपने आपको अकिंचन पाते हैं। हमारी आत्मिक शान्ति नष्ट हो गई है। भविष्यशास्त्रियों का अनुमान है कि यदि इसी गति से हम प्राकृतिक स्रोतों का दोहन करते रहे तथा वातावरण में प्रदूषण फैलता रहा, तो यह पृथ्वी इक्कीसवीं शताब्दी भी शायद ही सुखपूर्वक पूरी कर सके। पर्यावरण को और अधिक न बिगड़ने देने तथा जो कुछ अब तक बिगड़ चुका है, उसकी क्षतिपूर्ति के लिए अब विश्व समाज सोचने लगा है। भारत सरकार भी इस ओर सचेष्ट हुई है तथा केन्द्र सरकार में पर्यावरण संरक्षण का एक पृथक मंत्रालयी विभाग बना है। यह चेतना तो ठीक है परन्तु जब तक पर्यावरण संरक्षण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सहज आचरण नहीं बन जाता तब तक इस दिशा में प्रगति संभव नहीं है। गृहस्थों के लिए निर्धारित जैनाचार संहिता पर्यावरण संरक्षण में बहुत बड़ा योगदान कर सकती है। जैनाचार संहिता इतनी व्यापक है, तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक है कि उसका सर्वव्यापी प्रचार तथा अंगीकार करना अशान्त मानवता के लिए वरदान साबित हो सकता है। आइये, उनमें से कुछ पर विचार करें।

जैन आचार संहिता का मूलाधार 'अहिंसा' है। सभी नैतिक आचरण अहिंसा से उद्भूत होते हैं और अहिंसा के मूल्य के अनुपूरक हैं। जैन अहिंसा मनुष्य जगत् तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसका प्रसार सभी चराचर जीवों तक व्याप्त है। पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु भी जीवों की परिधि में आते हैं। वनस्पति को तो जीवन माना ही जाता है। गृहस्थ मनुष्य के सन्दर्भ में अहिंसा के आचरण का अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने जीवनयापन की प्रक्रिया में जब अन्य जीवों के साथ अन्तर्क्रिया करता है, तो वह ऐसी होनी चाहिए कि अकारण किसी जीव को कष्ट न हो। जीवों की आवश्यक हिंसा उतनी ही की जाए, जितनी कि जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य हो। प्राकृतिक जीवों से जितना लिया जाए उतना प्रतिदान के रूप में उन्हें लौटाया भी जाए तथा जीवनचर्या को ऐसी बनाया जाए कि यदि अपने जीव-निर्वाह के लिए हम अन्य जीवों पर आश्रित हैं, तो कुछ जीव हम पर भी निर्भर हैं। हम स्वयं भी जिएँ तथा दूसरों को भी जीने दें क्योंकि—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं॥ —दसवेआलिय ६/११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरना नहीं चाहता। 'इसीलिये घोर प्राणिवध का निर्ग्रन्थ परिहार करते हैं।

जल संरक्षण

शुद्ध पेय जल की कमी सारे विश्व में अनुभव की जा रही है। जल को बचाना आज हमारे लिए परम आवश्यक हो गया है। जब हमें जल प्रचुरता के साथ मिलता है, तब हम उसका अपव्यय करते हैं और तभी त्यागवृत्ति विवशतापूर्वक धारण करते हैं, जब जल सीमित रूप में उपलब्ध होने लगता है। हमें यह अभिवृत्ति बनानी होगी कि जल सीमित है और यदि हम आवश्यकता से अधिक उसका उपभोग करते हैं, तो कुछ अन्य प्राणियों को उससे वंचित रखते हैं। उपयोग किए हुए दूषित जल के पुनः शुद्धीकरण का प्रयास भी साथ-साथ चलना चाहिये। नहाने, कपड़े धोने तथा बर्तन धोने से अवशिष्ट पानी का उपयोग वृक्षों को जीवन दान देने के लिए होना चाहिए।

ऊर्जा संरक्षण

वृक्षों के नष्ट होने तथा वन उजड़ने का एक मुख्य कारण लकड़ी का ईंधन के रूप में प्रयुक्त होना है। ऊर्जा चाहे लकड़ी से प्राप्त हो, या कोयले से या गैस से या विद्युत से, उसकी कमी सदा रहती है और रहने वाली है। हमारी भोगवादी संस्कृति द्वारा विद्युत ऊर्जा का अपव्यय बहुत होता है। ऊर्जा को बचाना भी हिंसा को रोकना है। ऊर्जा के कुछ प्राकृतिक साधन ऐसे भी हैं, जिनसे वातावरण दूषित नहीं होता और परम्परागत ऊर्जा की बचत भी होती है। सूर्य ऊर्जा का अनन्त स्रोत है। भोजन बनाने में तथा अन्य कामों में सूर्य ऊर्जा का प्रयोग किया जाए तो हिंसा भी कम होती है, स्वास्थ्य-रक्षा भी होती है और ऊर्जा की बचत भी होती है।

वनस्पति संरक्षण

वनस्पति में जीवों का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं। भारतीय संस्कृति में वृक्षों की देवता के समान पूजा की जाती है। उसके पीछे दृष्टि यही है कि यदि वृक्ष हमें जीवन, वायु, फल, फूल, पत्ते और छाया प्रदान करके हम पर उपकार करते हैं, तो हमें प्रतिदान में अन्य उपयोग से बचे हुए पानी तथा निरर्थक वस्तुओं का खाद देकर उनका प्रतिदान करना चाहिये तथा उन्हें नष्ट नहीं करना चाहिये। हम आवश्यकतानुसार वृक्षों से ग्रहण करें, उनको बढ़ने के लिए प्रतिदान करें तथा उन्हें न स्वयं नष्ट करें, न दूसरों को नष्ट करने दें।

वायु संरक्षण

वायु प्रदूषण के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार कारखाने हैं। इस प्रदूषण से न केवल हमारा वायुमंडल दूषित हो रहा है बल्कि अनेक गगनचारी, जलचर तथा स्थलीय जीवों का प्राण-घात हो रहा है। प्रत्येक कारखाने के लिए यह कानूनी अनिवार्यता होनी चाहिए कि वह दूषित गैसों के लिए उपचार यन्त्र का प्रावधान करे ताकि वायु प्रदूषण से होने वाली हिंसा को रोका जा सके।

भू संरक्षण

कृषि कर्म कभी जैनों का व्यावसायिक कर्म माना जाता था। आज अधिक उत्पादन तथा अनाज संरक्षण के पागलपन ने कीटनाशक दवाइयाँ पृथ्वी की ऊपजाऊ शक्ति को एक साथ ऊपर लाकर कालान्तर में समाप्त कर देने वाले रासायनिक खाद, पृथ्वी की अत्यधिक गहरी जुताई आदि ऐसे दूषित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपक्रम आरम्भ किए हैं, जिनसे भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाने का खतरा है। कीटनाशक दवाएँ उपकारी कीटों को भी नष्ट कर रही हैं और उत्पादित खाद्य वस्तुएँ मनुष्यों के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर डाल रही हैं। कृषि कर्म में जीवाजीव संगम तथा जीवों की अन्योन्याश्रितता को कायम रखना आवश्यक है।

आज खनिजों का दोहन अत्यन्त तीव्र गति से हो रहा है, उनका पुनर्स्थापन नहीं हो पा रहा है। इस गति को संतुलित करना आवश्यक है अन्यथा मनुष्य दरिद्र हो जाएगा।

त्रस जीवों का संरक्षण

सृष्टि में प्रत्येक जीव सृष्टि संचालन में अपनी महती भूमिका निभाता है। कीट-पतंगे, चूहे, साँप, छिपकली, सिंह, व्याघ्र, शाकाहारी, मांसाहारी, गगन-चारी, जल-विहारी तथा भूतलगामी सब जीव सृष्टि को संतुलित बनाये हुए हैं। यह दलील बिल्कुल बेतुकी है कि कुछ जीवों की उत्पत्ति इतनी तेजी से होती है कि यदि वे सब जीवित रहने दिए जाएँ तो मनुष्य का जीना मुश्किल हो जायेगा। प्रकृति का कुछ विधान ही ऐसा है कि उनकी उत्पत्ति और ह्रास की परिस्थितियाँ जीव लोक में ही विद्यमान रहती हैं। असंज्ञी जीव जगत में होने वाली हिंसा प्रकृति-प्रदत्त है, मनुष्य उससे असम्पृक्त है। असंज्ञी प्राणि जगत की कोई संस्कृति नहीं होती, उनका कोई समाज नहीं होता और इसी कारण उनकी कोई नैतिकता नहीं होती। मनुष्य का समाज होता है, उसकी संस्कृति होती है और उसमें मनुष्यों के अलावा अन्य आश्रित जीव भी होते हैं अतः उसकी नैतिकता होती है। मानवीय नैतिकता का आधार है अनावश्यक हिंसा का त्याग। हमारे संविधान की धारा ५१ का संशोधन करके मूल अधिकारों के साथ मूल कर्तव्यों को जोड़ा गया है, जिन्हें धारा ५१ ए का भाग माना गया है। मूल कर्तव्यों में दो कर्तव्य विचारणीय हैं—

१. सभी जीवधारियों के प्रति दयाभाव रखना, तथा
२. नैसर्गिक पर्यावरण में समरसता कायम रखना।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाए तो जैनों की आचार संहिता अब प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। जैन न्याय संहिता में तो हिंसा से कर्मबन्धन होता है, जिसका दुखद उपभोग अनिवार्यतः करना पड़ता है परन्तु भारतीय संविधान की न्यायिक व्यवस्था में इन कर्तव्यों का उल्लघन करने पर व्यक्ति के लिए दण्ड की व्यस्था है।

पुरस्कार तथा दण्ड भी समाज व्यवस्था को कायम रखने में सहायक होते हैं परन्तु उनका प्रभाव अल्पकालिक होता है। आज हमें स्वयं इस बात का अहसास होना चाहिए कि मानवीय सृष्टि को बचाने के लिए सभी जीवों को जीने देने का उसी प्रकार अधिकार देना होगा, जिस प्रकार हम स्वयं अपने लिए इस अधिकार को चाहते हैं। हमारे अन्दर किसी को प्राण देने की शक्ति नहीं है तो प्राण हरण करने का अधिकार हम कैसे ले सकते हैं? आवश्यक सूत्र के इस जीवन मूल्य "मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झ ण केणइ" (अर्थात् मेरी सभी जीवों के साथ मैत्री है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है) को हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र बनाना होगा। तभी सृष्टि का सन्तुलन कायम रखने में मनुष्य की सही भूमिका मानी जाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org